पर्यावरण–चेतना आचारांग सूत्र

– सुरेंद्र बोथरा

किसी एक जीवन अथवा जीव समूह अथवा परिवेश को समेटे रखने वाली सभी भौतिक वस्तुओं और परिस्थिति का वह जाल जो अंततः उसके रूप तथा अस्तित्व को निर्धारित करता है, पर्यावरण कहलाता है। इस पर्यावरण को हानि न पहुंचे इस बात के प्रति जागरूकता अहिंसक जीवनशैली में अंतर्निहित है। अहिंसक आचार संहिता में व्यक्ति और समाज को प्राकृतिक पर्यावरण को हानि पहुंचाने का निषेध मात्र ही नहीं, समानता और मैत्री की भावना के माध्यम से बिगडे पर्यावरण–संतुलन को पुनर्स्थापित करने का उपाय भी निहित है।

दुनिया के जिस भी धर्म और जीवनशैली ने अहिंसा को जहाँ जितना स्थान दिया है, वह उतना ही पर्यावरण के सरंक्षण के निकट गया है, यह ऐसा प्रत्यक्ष यथार्थ है जिसे साक्ष्य की आवश्यकता नहीं। संसार के सभी धर्म–दर्शनों में दो ऐसे हैं जिनमें अहिंसा की सर्वाधिक चर्चा हुई है, बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उनका आधार ही अहिंसा है, वे हैं जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन। इनमें भी अहिंसा पर आधारित जीवनशैली विकसित करने और उसे स्थापित करने का व्यापक और तक्रसंगत कार्य जैन धर्म ने किया है। महावीर के प्रथम और आधारभूत उपदेश के रूप में मान्य शास्त्र है आचारांग सूत्र। हम उसी में उपलब्ध, पर्यावरण का नाम लिए बिना ही उसके प्रति जागरूकता, और उससे प्रेरित पर्यावरण संरक्षण के बिंदुओं को देखें तो अहिंसा और पर्यावरण का घनिष्ठ संबंध स्पष्ट हो जाएगा।

आचारांग का आरंभ जीवन की गति की दिशा के प्रति जागरूकता से होता है। इस गति की प्रचलित परिभाषा जुड़ी है पुनर्जन्म से। पर उसे सामान्य जीवन की भौतिक तथा व्यावहारिक गति के संदर्भ में देखें तो पाते हैं कि किसी भी पदार्थ अथवा जीवन की गति की दिशा पर्यावरण की सुरक्षा और विनाश के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। पर्यावरण में असंख्य जीवों, पदार्थों और शक्तियों का एक जटिल और जीवंत संतुलन सदैव विद्यमान रहता है। इनमें से किसी एक प्रणाली के असंख्य घटकों में से एक की स्वाभाविक या नैसर्गिक दिशा में परिवर्तन हो तो उस सारे संतुलन पर प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य, जो अपने विचारों को कार्यरूप देने की अनोखी क्षमता रखता है, यदि अपनी तथा अपने आसपास की वस्तुओं की सहज–स्वाभाविक गति की दिशा से अनभिज्ञ हो तो उसका आचरण स्वयं उसके लिए ही नहीं, प्रकृति में रहे संतुलन के लिए भी घातक हो सकता है।

गति व दिशा के ज्ञान या उसके अभाव से जीवन और क्रियाएं प्रभावित होती हैं। यह स्थापित करने के बाद आचारांग में न करने योग्य क्रियाओं की बात की है। क्योंकि उन क्रियाओं का परिणाम व्यथा है, वेदना है, पीड़ा है, दुख है और हनन है, अतः उन क्रियाओं को हिंसा की संज्ञा देकर त्याज्य बताया है। सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए अपरिनिर्वाण (अशांति) अप्रिय, महाभयंकर और दुःखरूप है, ऐसा मैं कहता हूँ (1/6/122)। सब आत्माएं समान हैं यह जानकर पुरुष समूचे जीव–लोक की हिंसा से उपरत हो जाए (3/1/3)।

यह हिंसा समस्त जीव जगत को प्रभावित करती है और जैन अवधारणा में यह जीव–जगत अत्यंत व्यापक है। इस जीव

जगत के स्थूल या सूक्ष्म, किसी भी अंग के प्रति हिंसा पर यथाशक्ति संयम रखने की भावना पर आधारित है अहिंसक आचरण।

महावीर ने मानव इतिहास में सर्वप्रथम दृष्ट जगत से परे सूक्ष्म जीवन की अवधारणा को सशक्त व तक्रसंगत रूप से प्रस्तुत किया है। महावीर का षड्जीव निकाय का यह सिद्धांत आचारांग के इसी प्रथम अध्ययन में उपलब्ध है। उन्होंने पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि तत्त्वों पर आधारित और पोषित सूक्ष्म जीवों के चैतन्य और उनके प्राणों की वेदना को मानवीय अनुभूति के आधार पर मार्मिक शब्दों में परिभाषित और स्थापित किया है। मैं कहता हूँ –– पृथ्वीकायिक जीव जन्मना इंद्रियविकल –– अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाले होते हैं। शस्त्र से भेदन–छेदन करने पर जैसे जन्मना इंद्रियविकल अंधे मनुष्य को कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीवों को होती है। (1/2/280)। मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण–विनियोजन करने पर उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव को होती है। (1/2/30)

इस प्रकार सर्वप्रथम पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति होने वाली हिंसा का वर्णन करके हिंसा के क्षेत्र के विस्तार में आचारांग में पर्यावरण के समस्त घटकों को समेट लिया गया है। इसी क्रम में जलकाय, वायुकाय और अग्निकाय के जीवों की बात की है। जीवों के इस सूक्ष्म जगत् में होने वाली क्रियाएं हमें प्रभावित करती हैं तथा हमसे प्रभावित होती हैं। ऐसी स्थिति में हमारी वह प्रत्येक क्रिया जो उस सूक्ष्म जगत् को हानि पहुंचाती है हिंसा है और त्याज्य है।

पृथ्वी, वायु, जल तथा अग्नि के बाद वनस्पति की रक्षा का उल्लेख है। वन–संरक्षण की ओर जागरूकता और संवेदनशीलता के लिए मानव शरीर से वनस्पति की तुलना पुष्ट प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की है –– मनुष्य शरीर और वनस्पति दोनों जन्मते हैं, बढ़ते हैं, चैतन्ययुक्त हैं, छिन्न होने पर म्लान होते हैं, आहार करते हैं, अनित्य हैं, अशाश्वत हैं, उपचित और अपचित होते हैं, और विविध अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। इसके बाद मनुष्य सहित दृष्ट जगत् के सभी गतिमान जीवों की रक्षा का उल्लेख है जिन्हें आचारांग में त्रसकाय कहा है।

हिंसा की पारंपरिक परिभाषा से कहीं विस्तृत और व्यापक है आचारांग में हिंसा की यह अवधारणा। प्रत्येक प्राणी को सुख इष्ट है, यह देखकर और जानकर तुम हिंसा से विरत होओ (1/6/121)। यह अहिंसा–धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है। आत्मज्ञ अर्हतों ने लोक को जानकर इसका प्रतिपादन किया (4/1/2)।

जिन सभी तत्त्वों पर प्राणिमात्र का जीवन आधारित है, उन्हें भी जीव की संज्ञा देने की बात में प्रकृति के प्रति मनुष्य के एक बहुत बड़े उत्तरदायित्व की बात निहित है। हिंसा केवल दृष्ट जीवन को नष्ट करने में नहीं है। आचारांग में परिभाषित हिंसा में दृष्ट जीवन की सुदूर भविष्य में विकसित होने की संभावना मात्र को नष्ट करना भी सम्मिलित है। पर्यावरण–संरक्षण के प्रति सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों की विस्तृत चर्चा की है आचारांग में।

हिंसा के माध्यम के रूप में आचारांग में शस्त्र का उल्लेख है। शस्त्र द्वारा घात कर हानि पहुंचाना हिंसा है। शस्त्र दो प्रकार का होता है –– द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र। सभी मारक पदार्थ द्रव्यशस्त्र हैं और असंयम भावशस्त्र है। द्रव्यशस्त्र के तीन प्रकार हैं

—— स्वकायशस्त्र (काली मिट्टी, पीली मिट्टी के लिए), परकायशस्त्र (अग्नि मिट्टी के लिए) और तदुभय (मिट्टी मिश्रित जल अन्य मिट्टी के लिए)। अर्थात् प्रत्येक वह वस्तु शस्त्र है जो अन्य वस्तु के नैसर्गिक स्वभाव के विपरीत है, अतः घातक है। पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि में अप्राकृतिक तथा विपरीत स्वभावी अन्य वस्तुओं को जबरन मिलाना हिंसा है।

हिंसा के क्षेत्र और साधनों की इस व्यापक चर्चा के साथ हिंसा में प्रवृत्त होने के कारणों का उल्लेख है। वे कारण हैं —— वर्तमान जीवन में प्रशंसा, सम्मान और पूजा प्राप्त करने की अभिलाषा; जन्म, मरण और मोचन संबंधी कार्यों को संपन्न करने की आवश्यकता तथा अपने दुखों के प्रतिकार की इच्छा।

इसके बाद आरंभ होती है ऐसी हिंसक अथवा पर्यावरण विरोधी क्रियाओं से निस्तार पाने के लिए बताई संयममय जीवन की विस्तृत चर्चा। इस चर्चा में निर्देशित जीवन शैली पूर्णतया पर्यावरण से जुड़ी है। इस जीवन शैली की विशेषता है मनुष्य के भौतिक और आत्मिक विकास की ऐसी राह जो पर्यावरण के संतुलन को अक्षुण्ण रख सके।

अहिंसक जीवनशैली का आधार है पाँच व्रत (साधु के लिए महाव्रत और श्रावक के लिए अणुव्रत) —— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये पातंजलि योगसूत्र में यम कहे जाते हैं और अन्य अनेक धर्म—दर्शनों में विभिन्न रूप में विद्यमान हैं। यों तो अहिंसा में शेष चारों व्रत समाविष्ट हो जाते हैं और व्रतों के रूप में प्रस्तुत इस अहिंसक जीवन शैली का प्रत्येक पहलू पर्यावरण संरक्षण को प्रेरित करता है, पर यहाँ उन व्रतों—नियमों का उल्लेख समीचीन होगा जो सीधे पर्यावरण संरक्षण से जुड़ते हैं। अदत्तादान या अचौर्य —— जिस किसी भी वस्तु पर अपना भौतिक या नैतिक अधिकार नहीं बनता उसे लेने का निषेध। यह व्रत सीधा प्राकृतिक संसाधनों के अनियंत्रित दोहन से उत्पन्न समस्याओं के समाधान की भूमिका प्रस्तुत करता है। अपरिग्रह —— परिग्रह का सामान्य अर्थ है वस्तुओं के प्रति मोह और उनके संकलन की प्रवृत्ति। यह मोह संकलन हेतु हिंसा करवाता है, उसमें बाधा आने पर हिंसा करवाता है और उससे वंचित किए जाने पर हिंसा करवाता है। यही नहीं अनियंत्रित उपभोग को भी यही मोह प्रेरित करता है; और यों यह सीधा पर्यावरण से जुड़ जाता है।

मूलतः, हमारा उपभोग अस्तित्व संरक्षण से जुड़ा है। वह संपन्न हो जाने पर सुविधा और महत्त्वाकांक्षा कारण बन जाते हैं। सामयिक आवश्यकताओं के लिए कोई वस्तु प्राप्त करना जीवन—जगत् की सामान्य प्रक्रिया है। कल के लिए कुछ बचाकर रखने के पीछे भी स्व—संरक्षण का भाव ही नैसर्गिक रूप में काम करता है। किंतु काल्पनिक और अविवेकपूर्ण रूप से आवश्यकताओं का आकलन कर भंडारण करना आवश्यकता नहीं लोभ है। आवश्यकता और उपभोग को महत्त्वाकांक्षा के आधार पर बढ़ाना ही परिग्रह है।

आधुनिक युग में पर्यावरण प्रदूषण का मुख्य कारण खोजा जाए तो स्पष्ट होता है कि उपभोक्तावाद ही वह कारण है; यह दुधारी तलवार है जो एक ओर तो योजनाबद्ध तरीके से प्राकृतिक स्रोतों को दोहन कर उन्हें क्षीण कर जीवानोपयोगी पर्यावरण को नष्ट करता है और दूसरी ओर अनावश्यक उपभोग से पैदा हुए उच्छिष्ट के अनियंत्रित निस्तारण से पर्यावरण को प्रदूषित करता है। यही नहीं, यह असंतोष, गरीबी और सामाजिक विषमता फैलाता है जिसका अंत वैचारिक प्रदूषण और हिंसा में होता है। उपभोक्तावाद की समस्या के हल के रूप में अपरिग्रह व्रत का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अणुव्रतों के सहायक और पोषक व्रतों के रूप में सात शीलव्रत भी बताए हैं जिनमें तीन पर्यावरण से सीधा संबंध रखते हैं क्योंकि ये स्वेच्छा से आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को सीमित करने से संबंधित हैं। दिग्व्रत –– आवागमन की दिशाओं को सीमित करना। देशावकाशिक व्रत –– गतिविधियों के क्षेत्र को सीमित करना। उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत –– उपभोग–परिभोग को सीमित करना।

ये परिमाणव्रत अपरिग्रह व्रत के पोषक हैं। अपरिग्रह का संरक्षण की अवधारणा और सिद्धांत के प्रसार में बहुत महत्त्व है। व्यक्ति उपभोग की सीमा करेगा तो समाज में उस मानसिकता का विस्तार होगा और छोटे–छोटे परिमाण विशाल बन पर्यावरण संरक्षण की ओर एक बड़ा योगदान सिद्ध होंगे –– क्योंकि जब स्वेच्छा से उपभोग की सीमा निर्धारित होती है तो प्राकृतिक संपदाओं का दोहन भी स्वतः ही सीमित हो जाता है।

इन व्रतों के पालन में कोई कमी न रह जाए, इसके लिए समितियों, गुप्तियों और अतिचार–निषेधों के रूप में अन्य नियम भी परिभाषित किए गए हैं। इनमें सामान्य लगती किंतु महत्त्वपूर्ण बातों की विस्तार से चर्चा की है उदाहरणार्थ –– व्रतों में प्रथम अहिंसा के आचरण हेतु पाँच समितियों का उल्लेख है। इन्हीं में से एक है उच्छिष्ट त्याग और उसके स्थान संबंधी सावधानी। सामान्यतया यह महत्त्वपूर्ण बात नहीं लगती पर पर्यावरण प्रदूषण के दृष्टिकोण से देखें तो इसका महत्त्व समझ में आता है। आज प्रदूषण का एक बड़ा कारण उच्छिष्ट का असावधानी से त्याग है। इस प्रकार यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि पर्यावरण संरक्षण से अहिंसक जीवन पद्धति अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। इस संदर्भ में इसके तीन महत्त्वपूर्ण आधार हैं –– समता अर्थात् संतुलन, अहिंसा अर्थात् संयमित अतिक्रमण और अपरिग्रह अर्थात् संतुलित व संयमित उपभोग।

द्रष्टव्य आचारांग सूत्र।

❑❑❑